आलमगीर एवं एक अन्य

बनाम

बिहार राज्य

(गजेन्द्रगडकर और ए. के. सरकर, न्यायमूर्तिगण)

आपराधिक विचारण -आपराधिक इरादे से विवाहित महिला को नज़रबंदी में लेना- नज़रबंदी में लेना, यदि आवश्यक हो तो महिला की इच्छा के विरुद्ध होना चाहिए-सजा, भारतीय दंड संहिता, 1860 (1860 का XLV) की धारा-498 - दंड प्रक्रिया, 1898 (1898 का V), धारा 439 .

आर, एस की पत्नी, अपने पति के घर से लापता हो गई। उसे अपीलकर्ताओं ए और उसके भाई बी के घर पर पाया गया। जब एस वहाँ गया और ए को अपनी पत्नी को अपने साथ जाने देने के लिए कहा तो ए ने उसे बताया कि उसने उससे शादी कर ली है और बी ने एस को धमकी दी और उसे जाने के लिए कहा। अपीलकर्ताओं पर भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के तहत आरोप लगाया गया कि उन्होंने आर को अपने पास रोके रखा, जबकि उन्हें यह ज्ञात था या विश्वास करने का कारण था कि वह एस की विधिवत विवाहित पत्नी है, और उनका उद्देश्य उसके साथ अवैध संबंध स्थापित करना था। अपीलकर्ताओं ने यह दलील दी कि आर का एस के साथ विवाह वैध नहीं था और उन्होंने उसे रोके नहीं रखा था, क्योंकि वह एस के साथ रहते-रहते ऊब गई थी और अपनी इच्छा से तथा स्वेच्छा से उनके पास रहने आ गई थी। दंडाधिकारी ने अपीलकर्ताओं को दोषी पाया, उन्हें दोषसिद्ध किया और प्रत्येक को दो महीने के साधारण कारावास की सजा सुनाई। अपील पर सत्र न्यायाधीश ने दोषसिद्धि की पुष्टि की लेकिन सजा को घटाकर 50 रुपये का जुर्माना कर दिया। अपीलकर्ताओं ने उच्च न्यायालय के समक्ष पुनरीक्षण याचिका दायर की। उच्च न्यायालय ने सजा बढ़ाने के लिए सूचना जारी किया और अपीलकर्ताओं को सुनने के बाद पुनरीक्षण याचिका खारिज कर दी तथा प्रत्येक की सजा बढ़ाकर छह महीने का कठोर कारावास कर दिया।

अभिनिर्धारित, भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत नज़रबंदी का अर्थ है पत्नी को उसके पति से या उसके पति की ओर से उसकी देखभाल करने वाले किसी अन्य व्यक्ति से दूर रोककर रखना। ऐसा रोककर रखना बलपूर्वक भी हो सकता है; लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि वह बलपूर्वक ही हो। यह मनुहार, प्रलोभन या बहकावे का परिणाम भी हो सकता है जिससे या तो महिला स्वयं जाने के लिए तैयार हो जाए, या उसकी अपने पति को छोड़ने की प्रारंभिक प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले या उसमें सहयोग मिले। इस धारा का उद्देश्य पति के अधिकारों की रक्षा करना है और यह कहना बचाव के रूप में स्वीकार्य नहीं है कि यद्यपि पति को उसके अधिकारों से वंचित किया गया है, पत्नी स्वयं उन अधिकारों को नुकसान पहुँचाने के लिए तैयार थी, इसलिए उसकी इस इच्छा के लिए जिम्मेदार व्यक्ति ने उसे नज़रबंदी नहीं किया। ए को सही रूप से दोषी ठहराया गया, क्योंकि अधीनस्थ न्यायालय के निष्कर्ष के अनुसार उसके विरुद्ध नज़रबंदी का आरोप सिद्ध हो गया था कि उसने आर से विवाह का प्रस्ताव देकर उसे उसके पति के घर से जाने के लिए या तो प्रेरित किया या प्रोत्साहित किया था। लेकिन बी के विरुद्ध आरोप सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि यह साबित नहीं हो सका कि उसने आर को उसके पति की सुरक्षा छोड़ने या उसके पास वापस लौटने से मना करने के लिए कोई प्रलोभन, बहकावा या आकर्षण दिया था।

सुनदरा दास तेवन (1868): IV मद्रास उच्च न्यायालय प्रतिवेदन 20; *रामास्वामी उदयार बनाम राजू उदयार, ए.आई.आर.* (1953) मद्रास 333; *एम्परर बनाम जान मोहम्मद,* (1902) IV बॉम्बे विधि प्रतिवेदन 435; ब्रूमफील्ड, न्यायमूर्ति, *एम्परर बनाम महिजी फूला, (1933)* आईएलआर 58 बॉम्बे 88; *एम्परर बनाम राम नारायण बाबुराव कपूर, (1937) 39* बॉम्बे विधि प्रतिवेदन 61; *महादेव रामा बनाम एम्परर, ए.आई.आर.* (1943) बॉम्बे 179; *पृथी मिसिर बनाम बरक नाथ सिंह,* आईएलआर (1937) 1 कलकत्ता 166; *विपद भंजन सरकार बनाम एम्परर,* आईएलआर (1940) 2 कलकत्ता 93; *बनारसी राउत बनाम एम्परर,* ए.आई.आर. (1938) पटना 432 और *बंसी लाल बनाम द क्राउन,* (1913) पंजाब

विधि प्रतिवेदन 1066 को स्वीकार किया गया।

दिवाटिया, न्यायमूर्ति, *एम्परर बनाम महिजी फूला,* (1933) आईएलआर 58 बॉम्बे 88; मबारक शेख बनाम अहमद नवाज, (1939) 43 सी.डब्ल्यू.एन. 980; और *हरनाम सिंह बनाम एम्परर,* ए.आई.आर. (1939) लाहौर 295 को अस्वीकृत किया गया।

अभिनिर्धारित, उच्च न्यायालय छह महीने के कठोर कारावास की सजा बढ़ाने के लिए उचित रूप से अधिकृत नहीं था, और उसे केवल विचारण न्यायालय द्वारा दी गई सजा को ही बहाल करना चाहिए था। सजा का प्रश्न सामान्यतः विचारण न्यायालय के विवेक पर निर्भर करता है और उच्च न्यायालय केवल तभी सजा बढ़ा सकता है जब वह संतुष्ट हो कि विचारण न्यायालय द्वारा दी गई सजा अत्यधिक उदार है, या सजा देते समय उसने संबंधित तथ्यों पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया है। विचारण न्यायालय द्वारा दी गई दो महीने के साधारण कारावास की सजा इतनी अनुचित रूप से उदार या स्पष्ट रूप से अपर्याप्त नहीं थी कि न्याय के उद्देश्यों की पूर्ति न हो सके।

आपराधिक अपीलीय क्षेत्राधिकार : 1956 की अपील सं. 187

विशेष अनुमति द्वारा अपील, दिनांक 7 दिसंबर 1955 के पटना उच्च न्यायालय के निर्णय एवं आदेश के विरुद्ध, आपराधिक पुनरीक्षण सं. 875 सन् 1954 में, जो अपर सत्र न्यायाधीश, आरा के न्यायालय के 31 मई 1954 के निर्णय एवं आदेश से उत्पन्न आपराधिक अपील सं. 293 सन् 1953 से संबंधित था।

अपीलार्थियों के लिए- *बी. के. सरन* और *के. एल. मेहता*।

उत्तरदाता के लिए- *आर. एच. ढेबर* और *टी. एम. सेन* ।

1958, 14 नवंबर। न्यायालय का निर्णय दिया गया

गजेंद्रगडकर, न्यायमूर्ति- यह आपराधिक अपील भारतीय दंड संहिता की धारा 498 में प्रयुक्त नज़रबंदी शब्द की व्याख्या से संबंधित एक संक्षिप्त प्रश्न उठाती है। यह मामला इस प्रकार उत्पन्न हुआ। दोनों अपीलकर्ताओं पर विचारण दंडाधिकारी के समक्ष आरोप लगाया

गया था कि उन्होंने लगभग 27 अक्टूबर 1952 को गाँव मोहनिया में मसोमात रहमतिया, जो शिकायतकर्ता सकलू मियाँ की विधिवत विवाहित पत्नी थी, को गलत तरीके से अपने पास रोके रखा, जबकि उन्हें यह ज्ञात था या विश्वास करने का कारण था कि वह शिकायतकर्ता की पत्नी है और उसकी देखरेख में है, तथा उनका उद्देश्य उसके साथ अवैध संबंध स्थापित करना था। अभियोजन का मामला यह था कि मसोमात रहमतिया 21 अक्टूबर 1952 को अपने पति के घर से लापता हो गई थी; शिकायतकर्ता ने कई दिनों तक उसकी खोज की लेकिन उसका पता नहीं लगा सका। अंततः उसने पुलिस थाने में शिकायत दर्ज कराई, जब उसे शकूर मियाँ (अभियोजन साक्षी 4) ने बताया कि उसने शिकायतकर्ता की पत्नी को दोनों अपीलकर्ताओं के घर में देखा है। इसके बाद शिकायतकर्ता शकूर मियाँ (अभियोजन साक्षी 4), मूसा मियाँ (अभियोजन साक्षी 2) और सुलेमान मियाँ (अभियोजन साक्षी 3) के साथ अपीलकर्ताओं के घर गया; वहाँ उन्होंने उस महिला को अपीलकर्ताओं के घर में देखा, जिस पर शिकायतकर्ता ने अपीलकर्ता संख्या 1 आलमगीर से अपनी पत्नी को उसके साथ भेजने के लिए कहा, लेकिन अपीलकर्ता संख्या 1 ने कहा कि उसने उससे विवाह कर लिया है और अपीलकर्ता संख्या 2 ने उसे चेतावनी दी कि वह वहाँ से चला जाए और यदि उसने जिद की तो उसे भगा दिया जाएगा। यह कहानी शिकायतकर्ता के तीन साथियों द्वारा भी पुष्टि की गई है।

अपीलकर्ताओं ने आरोप से इनकार किया। उन्होंने यह दलील दी कि शिकायतकर्ता ने उस महिला से वैध विवाह नहीं किया था और उसे उनके द्वारा रोका नहीं गया था। उनके अनुसार, वह महिला शिकायतकर्ता के साथ रहते-रहते ऊब गई थी और अपनी इच्छा से तथा स्वेच्छा से अपीलकर्ताओं के पास रहने आ गई थी।

विद्वान विचारण दंडाधिकारी ने अभियोजन साक्ष्य पर विश्वास किया, बचाव पक्ष द्वारा उठाए गए तर्कों को अस्वीकार किया, आरोप को सिद्ध मानते हुए अपीलकर्ताओं को दोषी ठहराया और प्रत्येक को दो महीने के साधारण कारावास की सजा सुनाई। इस दोषसिद्धि और

सजा के आदेश को अपीलकर्ताओं ने सत्र न्यायालय के समक्ष अपील द्वारा चुनौती दी। अपीलीय न्यायालय ने अपीलकर्ताओं की दोषसिद्धि को तो बरकरार रखा, लेकिन उनकी सजा को दो महीने के साधारण कारावास से घटाकर प्रत्येक पर 50 रुपये का जुर्माना कर दिया, और जुर्माना न देने की स्थिति में प्रत्येक को एक महीने का साधारण कारावास भुगतने का आदेश दिया। इसके बाद अपीलकर्ताओं ने पटना उच्च न्यायालय में उसकी पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार के अंतर्गत आवेदन प्रस्तुत किया। जब पुनरीक्षण आवेदन की सुनवाई चौधरी, न्यायमूर्ति के समक्ष हुई, तो विद्वान न्यायमूर्ति ने यह विचार किया कि अपीलीय न्यायालय को विचारण दंडाधिकारी द्वारा दी गई सजा को कम नहीं करना चाहिए था, इसलिए उन्होंने अपीलकर्ताओं को नोटिस जारी किया कि वे कारण बताएं कि उनकी सजा क्यों न बढ़ाई जाए। यह नोटिस और मुख्य पुनरीक्षण आवेदन अंततः रामास्वामी और इमाम, न्यायाधीशों द्वारा सुना गया, जिन्होंने दोषसिद्धि के आदेश को बरकरार रखा और दोनों अपीलकर्ताओं की सजा बढ़ाकर प्रत्येक को छह महीने के कठोर कारावास का आदेश दिया। अपीलकर्ताओं द्वारा उच्च न्यायालय से इस न्यायालय में अपील करने के लिए प्रमाणपत्र प्राप्त करने का आवेदन खारिज कर दिया गया। इसके बाद अपीलकर्ताओं ने विशेष अनुमति के लिए आवेदन किया और उन्हें इस न्यायालय में अपील करने की अनुमति मिल गई। इस प्रकार यह अपील अंतिम निर्णय के लिए हमारे समक्ष आई है।

अपीलकर्ताओं की ओर से श्री बी. के. सरन ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि मामले के साक्ष्य स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं कि वह महिला अपने पति से असंतुष्ट थी और उसने स्वेच्छा से तथा अपनी इच्छा से उसके घर और संरक्षण को छोड़ दिया था। यदि इस प्रकार घर छोड़ने के बाद वह अपीलकर्ताओं के साथ रहने आ गई और उन्होंने उसे अपने साथ रहने दिया, तो यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अर्थ में "नजरबंद" किया है। उनके अनुसार, धारा 498 में प्रयुक्त "नजरबंद" शब्द का अनिवार्य अर्थ यह होना चाहिए कि वह महिला अभियुक्त के साथ रहने के लिए अनिच्छुक हो

और उसे उसकी इच्छा और इच्छा के विरुद्ध मजबूर करके रखा गया हो। यह कल्पना करना कठिन है कि यदि कोई महिला स्वेच्छा से किसी व्यक्ति के साथ रहना चाहती है, तो यह कहा जा सके कि उस व्यक्ति ने उसे रोका हुआ है। यह "नजरबंद" शब्द का सामान्य और व्याकरणिक अर्थ भी नहीं है। यही तर्क इस अपील में हमारे विचार के लिए प्रस्तुत किया गया है।

आरंभ में यह स्मरण रखना आवश्यक है कि भारतीय दंड संहिता की धारा 498 भारतीय दंड संहिता के अध्याय XX में आती है, जो विवाह से संबंधित अपराधों से जुड़ा हुआ है। धारा 498 के प्रावधान, धारा 497 की तरह, पत्नी के अधिकारों की रक्षा के लिए नहीं बल्कि पति के अधिकारों की रक्षा के लिए बनाए गए हैं। धारा 498 के अंतर्गत अपराध का मूल तत्व यह प्रतीत होता है कि पति को अपनी पत्नी की अभिरक्षा और उस पर अपने उचित नियंत्रण से वंचित किया जाए, और यह कार्य उसके साथ अवैध संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से किया जाए। इस संदर्भ में धारा 498 के प्रावधानों की तुलना धारा 366 से करना उपयोगी होगा। धारा 366 उन मामलों से संबंधित है जहाँ अपहृत या बहकाई गई महिला अपराधी की आपराधिक मंशा के प्रति अनिच्छुक होती है और उसका सहयोग नहीं करती। ऐसे मामलों में अभियुक्त का उद्देश्य होता है कि बाद में उसे उसकी इच्छा के विरुद्ध किसी व्यक्ति से विवाह करने के लिए बाध्य किया जाए या उसे बलपूर्वक अथवा प्रलोभन द्वारा अवैध संबंध के लिए विवश किया जाए। दूसरे शब्दों में, धारा 366 महिलाओं को अपहरण या बहकाने से सुरक्षा प्रदान करने के लिए बनाई गई है। यदि यह सिद्ध हो जाए कि जिस महिला के अपहरण या बहकाने का आरोप है वह वयस्क है और उसने अपनी स्वतंत्र सहमति से ऐसा किया है, तो यह धारा 366 के अंतर्गत आरोप के विरुद्ध प्रथम दृष्टया एक अच्छा बचाव हो सकता है। इसके विपरीत, धारा 498 पत्नी के अधिकारों की नहीं बल्कि उसके पति के अधिकारों की रक्षा के लिए है; अतः पत्नी की सहमति से यदि पति को उसके उचित नियंत्रण से वंचित किया गया हो, तो वह प्रथम दृष्टया इस अपराध के लिए प्रासंगिक नहीं होगी। इस

अपराध का आवश्यक तत्व पति के अधिकारों का उल्लंघन है, जो अवैध संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से किया गया हो। यह भी ध्यान देने योग्य है कि धारा 498 के अंतर्गत अपराध, धारा 366 के अपराध की तुलना में अपेक्षाकृत एक लघु अपराध है।

भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत निहित नीति आधुनिक समय में स्त्री की स्थिति तथा विवाह में पारस्परिक अधिकारों और कर्तव्यों की धारणाओं के साथ असंगत प्रतीत हो सकती है। वास्तव में श्री सरन ने हमारे समक्ष जोरदार तर्क दिया कि धारा 497 और 498 को दंड संहिता से हटा दिया जाना चाहिए। लेकिन यह नीति का प्रश्न है, जिससे न्यायालय का कोई संबंध नहीं होता। यह भी सत्य है कि यदि किसी आपराधिक विधि में प्रयुक्त शब्द दो अर्थों में से किसी एक अर्थ में उचित रूप से व्याख्यायित किए जा सकते हों, तो आरोपी के पक्ष में अनुकूल व्याख्या को प्राथमिकता दी जानी चाहिए; परंतु संबंधित शब्दों की व्याख्या करते समय यह आवश्यक है कि जिस संदर्भ में उनका प्रयोग किया गया है, उस पर समुचित ध्यान दिया जाए; और जैसा कि हम आगे स्पष्ट करेंगे, धारा 498 में "नजरबंद" शब्द का प्रयोग जिस संदर्भ में किया गया है, वह उस व्याख्या के विरुद्ध है जो अपीलकर्ता द्वारा प्रस्तुत की जा रही है।

धारा 498 में प्रावधान हैः

"जो कोई किसी स्त्री को, जो किसी अन्य पुरुष की पत्नी है और जिसे वह जानता है या जानने का कारण रखता है कि वह किसी अन्य पुरुष की पत्नी है, उस पुरुष से या उस व्यक्ति से जो उस पुरुष की ओर से उसकी देखभाल करता है, इस उद्देश्य से ले जाए या बहकाकर ले जाए कि उसके साथ अवैध संबंध स्थापित किए जाएँ, या ऐसे ही उद्देश्य से किसी ऐसी स्त्री को छिपाए या उसे रोके रखे, उसे कारावास से, जिसकी अवधि दो वर्ष तक बढ़ाई जा सकती है, या जुर्माने से, या दोनों से दंडित किया जाएगा।"

यह स्पष्ट है कि इस धारा के तीन आवश्यक तत्व हैं। अपराधी को किसी अन्य व्यक्ति की पत्नी को उस व्यक्ति से या उस व्यक्ति की ओर से उसकी देखभाल करने वाले किसी

अन्य व्यक्ति से ले जाना, बहकाकर ले जाना, छिपाना या रोककर रखना चाहिए। उसे यह भी ज्ञात होना चाहिए या जानने का कारण होना चाहिए कि वह स्त्री किसी अन्य पुरुष की पत्नी है; और उस स्त्री को ले जाना, बहकाना, छिपाना या रोककर रखना इस उद्देश्य से होना चाहिए कि उसके साथ किसी व्यक्ति द्वारा अवैध संबंध स्थापित किए जाएँ। यह स्पष्ट है कि यदि अवैध संबंध स्थापित करने का उद्देश्य सिद्ध नहीं होता, तो केवल पहले दो तत्वों की उपस्थिति भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत आरोप को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं होगी। केवल तभी, जब उक्त उद्देश्य सिद्ध हो जाता है, यह विचार करना आवश्यक होता है कि अन्य दो तत्व सिद्ध हुए हैं या नहीं।

यह स्पष्ट है कि इस धारा में चार भिन्न प्रकार के मामलों की कल्पना की गई है। किसी स्त्री को ले जाया जा सकता है, बहकाकर ले जाया जा सकता है, छिपाया जा सकता है या रोका रखा जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जब धारा के बाद वाले भाग में ऐसी स्त्री का उल्लेख किया गया है, तो उसका अर्थ केवल वह स्त्री नहीं है जिसे पहले भाग में वर्णित तरीके से ले जाया या बहकाया गया हो, बल्कि वह ऐसी कोई भी स्त्री है जो किसी अन्य पुरुष की पत्नी है और जिसे अपराधी जानता है या जानने का कारण रखता है कि वह किसी अन्य पुरुष की पत्नी है। यह गंभीर रूप से विवादित नहीं है कि पहले तीन प्रकार के मामलों में यदि यह सिद्ध हो जाए कि महिला की सहमति अपराधी के शब्दों, कार्यों या किसी अन्य तरीके से उत्पन्न या प्रेरित की गई है, तो उसकी सहमति महत्व नहीं रखती। यह प्रश्न कि क्या अपराधी से उत्पन्न किसी प्रभाव ने महिला के मन पर असर डाला या उसकी प्रवृत्ति के साथ सहयोग किया, सदैव तथ्य का प्रश्न होगा। यदि साक्ष्य के आधार पर न्यायालय संतुष्ट हो जाए कि महिला का अपने पति को छोड़ना अपराधी द्वारा दिए गए प्रलोभन या बहकावे के प्रभाव से हुआ है, तो यह भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत वर्णित किसी भी तीन श्रेणियों के मामले में उसे लाने के लिए पर्याप्त होगा। इस संदर्भ में, जब बचाव में महिला की सहमति या स्वतंत्र इच्छा का दावा किया जाता है, तो यह देखना आवश्यक है कि

क्या ऐसी कथित सहमति या स्वतंत्र इच्छा वास्तव में अपराधी द्वारा दिए गए प्रलोभन, बहकावे या प्रेरणा के कारण तो नहीं थी।

यह तर्क दिया गया है कि जब धारा के अंतिम भाग में नज़रबंदी का उल्लेख है, तो उसका प्रथम दृष्टया अर्थ यह होना चाहिए कि किसी स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध रोका गया है। यह स्वीकार किया जा सकता है कि "नज़रबंद" शब्द किसी व्यक्ति को उसकी इच्छा के विरुद्ध रोककर रखने का अर्थ दे सकता है; लेकिन धारा के संदर्भ में इस शब्द को ऐसा अर्थ देना संभव नहीं है। यदि धारा का उद्देश्य पत्नी की रक्षा करना होता, तो ऐसा अर्थ उचित हो सकता था; लेकिन क्योंकि इस धारा का उद्देश्य पति के अधिकारों की रक्षा करना है, इसलिए यह बचाव स्वीकार्य नहीं है कि यद्यपि पति को उसके अधिकारों से वंचित किया गया है, पत्नी स्वयं उन अधिकारों को हानि पहुँचाने के लिए तैयार थी, और इसलिए जिसने उसकी इस इच्छा को प्रेरित किया उसने उसे नज़रबंद नहीं किया। इस संदर्भ में नज़रबंदी का अर्थ है पत्नी को उसके पति या उसके पति की ओर से उसकी देखभाल करने वाले किसी अन्य व्यक्ति से उचित आशय के साथ रोककर रखना। ऐसा रोककर रखना बलपूर्वक भी हो सकता है, लेकिन यह आवश्यक नहीं कि वह बलपूर्वक ही हो; यह मनुहार, प्रलोभन या बहकावे का परिणाम भी हो सकता है, जिससे या तो महिला स्वयं जाने के लिए तैयार हो जाए, या उसकी अपने पति को छोड़ने की प्रारंभिक प्रवृत्ति को बढ़ावा मिले या उसमें सहयोग मिले। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यदि पत्नी की सहमति या इच्छा पहले तीन श्रेणियों में अप्रासंगिक है, तो उसे अंतिम श्रेणी अर्थात नज़रबंदी के मामले में भी महत्वपूर्ण नहीं माना जा सकता। अतः हम इस बात से संतुष्ट हैं कि उच्च न्यायालय ने यह सही माना कि अपीलकर्ता संख्या 1 के विरुद्ध नज़रबंदी का आरोप सिद्ध हो गया है, क्योंकि दोनों तथ्य-न्यायालयों ने पाया है कि उसने मुसम्मत रहमतिया से विवाह का प्रस्ताव दिया था और इस प्रकार उसे उसके पति के घर से जाने के लिए या तो प्रेरित किया या प्रोत्साहित किया। यह हो सकता है कि रहमतिया अपने पति से असंतुष्ट थी और स्वेच्छा से उसे छोड़ना चाहती थी;

लेकिन साक्ष्य के आधार पर यह पाया गया है कि उसे यह विश्वास था कि उसे अपीलकर्ता संख्या 1 के पास आश्रय और संरक्षण मिलेगा और वह उससे विवाह की आशा रखती थी। वास्तव में अपीलकर्ता संख्या 1 ने उससे विवाह करने का दावा किया है। इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं कि उसका उद्देश्य उसके साथ अवैध यौन संबंध स्थापित करना था। यह अपीलकर्ता संख्या 1 के विरुद्ध दर्ज समवर्ती तथ्यात्मक निष्कर्षों का प्रभाव है, और इस अपील में वह उनकी सत्यता या औचित्य को चुनौती नहीं दे सकता।

यह धारा भारतीय दंड संहिता की धारा 498 कई न्यायिक निर्णयों का विषय रही है और ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ असहमति के नोट्स को छोड़कर, "नज़रबंद" शब्द की उस व्याख्या के पक्ष में न्यायिक मतों में पर्याप्त एकरूपता है, जिसे हम स्वीकार करने के इच्छुक हैं। हालांकि यह सत्य है कि संबंधित निर्णयों, जिनमें से कुछ का हम अभी उल्लेख करेंगे, में तथ्यों के मूल्यांकन के तरीके में स्पष्ट अंतर दिखाई देता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यद्यपि धारा के प्रासंगिक भाग की व्याख्या समान रूप से की गई है, फिर भी समान या मिलते-जुलते तथ्यों के आधार पर विद्वान न्यायमूर्ति इस निष्कर्ष पर अलग-अलग पहुँचे हैं कि क्या अभियुक्त का आचरण ऐसा था जो उसके मामले को धारा 498 के अंतर्गत लाता है या नहीं। यह अंतर साक्ष्यों के विश्लेषण और उनके प्रभाव के आकलन की पद्धति में भिन्नता का परिणाम है। यह विचार करना व्यर्थ और अनुचित होगा कि किसी विशिष्ट मामले में प्रस्तुत साक्ष्य से निकाले गए निष्कर्ष सही थे या नहीं। ऐसे मामलों में महत्वपूर्ण यह देखना है कि धारा की व्याख्या कैसे की गई है और जैसा कि हमने अभी संकेत किया है, व्याख्या के प्रश्न पर पर्याप्त एकरूपता दिखाई देती है। अब हम उन कुछ निर्णयों का उल्लेख करेंगे जिनका हमारे समक्ष हवाला दिया गया है।

सन् 1868 में मद्रास उच्च न्यायालय ने भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत *सुंदरा दास तेवन*[1] के मामले में यह निर्णय दिया कि पति को उसकी पत्नी पर उसके उचित नियंत्रण

1 (1868) IV मद्रास एच.सी.आर. 20.

से वंचित करना, अवैध संबंध स्थापित करने के उद्देश्य से, इस अपराध का मूल तत्व है, ठीक उसी प्रकार जैसे उसी धारा के अंतर्गत पत्नी को ले जाने का अपराध होता है; और ऐसा "नज़रबंदी" जो इस प्रकार के वंचन को उत्पन्न करे, केवल प्रलोभन और बहकावे के प्रभाव से भी किया जा सकता है। हालांकि, मामले के तथ्यों के आधार पर न्यायालय इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा कि अभियुक्त ने कोई ऐसा प्रलोभन या बहकावा दिया था, और इसलिए अपीलकर्ता के विरुद्ध दी गई दोषसिद्धि को अभिखंडित कर दिया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि इस मामले में मद्रास उच्च न्यायालय द्वारा धारा 498 की की गई व्याख्या को उसी उच्च न्यायालय में सामान्यतः स्वीकार किया गया है (देखें *रामास्वामी उदयार बनाम राजू उदयार*[1])।

बॉम्बे उच्च न्यायालय ने *एम्परर बनाम जान मोहम्मद*[2] में भी यही दृष्टिकोण अपनाया है। उच्च न्यायालय ने माना कि भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत अपराध तब पूरा हो जाता है जब यह प्रतीत हो कि अभियुक्त किसी स्त्री को इस प्रकार ले गया जिससे उसके पति को अपनी पत्नी के नियंत्रण से वंचित होना पड़ा; यह तथ्य कि स्त्री अपनी स्वेच्छा से अभियुक्त के साथ गई थी, उस कार्य की आपराधिकता को कम नहीं करता। इस मामले में भी न्यायालय को अभियुक्त की मंशा या उसके द्वारा दिए गए किसी प्रलोभन या बहकावे के संबंध में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई साक्ष्य नहीं मिला, इसलिए दोषसिद्धि का आदेश रद्द कर दिया गया। यह प्रश्न पुनः उसी उच्च न्यायालय के समक्ष *एम्परर बनाम महिजी फुला*[3] में विचारार्थ आया। न्यायमूर्ति ब्रूमफील्ड, जिन्होंने पीठ का मुख्य निर्णय दिया, ने यह मत व्यक्त किया कि "'नजरबंद' शब्द का अर्थ वंचित करके 'रोके रखना' होता है, और भाषा के सामान्य प्रयोग के अनुसार इसका अर्थ 'रोके रखना' होता है"; और वे आगे कहते हैं कि "रोककर रखने के विभिन्न तरीके हो सकते हैं। यह आवश्यक नहीं कि वह

1 ए.आई.आर (1953) मद्रास 333.

2 (1902) IV बॉम्बे. एल.आर. 435.

3 (1933) आई.एल.आर. 58 बॉम्बे 88, 92.

केवल शारीरिक बल से ही हो। यह मनुहार या, जैसा कि मद्रास उच्च न्यायालय ने इस विशेष मामले (*सुंदरा दास थेवन*[4]) में कहा है, प्रलोभन या बहकावे द्वारा भी हो सकता है।" तथ्यों के आधार पर, हालांकि, विचारण न्यायालय को यह प्रतीत हुआ कि अभियुक्त का आचरण भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत अपराध की परिधि में नहीं आता। शिकायतकर्ता की पत्नी को उसके भाई द्वारा ले जाया गया था और बाद में उसका विवाह अभियुक्त से नातरा विवाह के रूप में हुआ था। शिकायतकर्ता को इस घटना की जानकारी मिली और वह अभियुक्त के पास गया ताकि वह अपनी पत्नी को उसके साथ वापस जाने दे। शिकायतकर्ता और उसके साथियों को देखते ही अभियुक्त हाथ में धारिया लेकर बाहर आया और उसने शिकायतकर्ता तथा उसके साथियों को धमकाया, जिसके बाद वे अपने गाँव लौट गए। कहा गया कि जब शिकायतकर्ता अभियुक्त के पास गया तो उसके इस व्यवहार से यह आवश्यक रूप से नहीं माना जा सकता कि अभियुक्त ने उस महिला को रोके रखा था। विचारण न्यायालय ने यही दृष्टिकोण अपनाते हुए अभियुक्त को बरी कर दिया; अपील में उच्च न्यायालय ने इससे भिन्न मत नहीं पाया और इसलिए बरी किए जाने के आदेश को पुष्टि कर दी। दिवाटिया, न्यायमूर्ति, जिन्होंने सहमतिपूर्ण निर्णय दिया, ने संभवतः "रोक रखना" शब्द की व्याख्या के संबंध में ब्रूमफील्ड, न्यायमूर्ति से भिन्न मत रखा। उन्होंने माना कि धारा 498 की योजना से यह स्पष्ट है कि यद्यपि महिला पूर्णतः स्वेच्छा से भी किसी व्यक्ति के साथ जा सकती है, फिर भी ले जाने या बहकाकर ले जाने का अपराध हो सकता है क्योंकि इसमें केवल स्त्री को ले जाना या बहकाना ही पर्याप्त है, इससे अधिक कुछ आवश्यक नहीं; लेकिन उनके अनुसार, धारा के अंतिम भाग में जहाँ स्त्री को छिपाने या रोके रखने की बात है, वहाँ स्त्री तभी "नजरबंद" मानी जाएगी जब उसे उस स्थान पर जाने से रोका जाए जहाँ वह जाना चाहती है। हमारे विचार में यह व्याख्या सही नहीं है। यह समझना कठिन है कि स्त्री को छिपाने का कार्य स्वयं ही उसकी सहमति के प्रश्न को कैसे शामिल कर सकता है;

---

4 (1868) IV मद्रास, एच.सी.आर. 20.

इसके अतिरिक्त, स्वयं दिवाटिया, न्यायमूर्ति के अनुसार भी, ले जाने या बहकाने के मामलों में स्त्री की सहमति अप्रासंगिक है। यदि ऐसा है, तो उसे रोके रखने के मामलों में उसकी सहमति को महत्वपूर्ण और निर्णायक मानना कठिन है। दुर्भाग्यवश विद्वान न्यायमूर्ति यह तथ्य ठीक से नहीं समझ पाए कि धारा 498 का मुख्य और एकमात्र उद्देश्य पति के अधिकारों की रक्षा करना है, न कि पत्नी के अधिकारों की। यदि यह सिद्ध हो जाए कि महिला की अपने पति से अलग रहने की प्रवृत्ति अभियुक्त द्वारा उत्प्रेरित या प्रोत्साहित की गई थी, तो उसे धारा के अर्थ में रोके रखा गया या उसके पति से दूर रखा गया माना जाएगा, भले ही उस समय वह अभियुक्त के साथ रहने के लिए तैयार क्यों न हो। यही दृष्टिकोण ब्रूमफील्ड और सेन, न्यायमूर्तिगण ने *एम्परर बनाम राम नारायण बाबूराव कपूर*[1] में तथा ब्यूमोंट मुख्य न्यायमूर्ति और सेन, न्यायमूर्ति ने *महादेव रामा बनाम एम्परर* [2]में व्यक्त किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि इन दोनों मामलों में न्यायालय इस बात से संतुष्ट नहीं था कि वास्तव में अभियुक्त द्वारा स्त्री को रोके रखने का कोई प्रमाण सिद्ध हुआ था।

कलकत्ता उच्च न्यायालय ने भी "नज़रबंदी" शब्द की इसी प्रकार की व्याख्या अपनाई प्रतीत होती है। *प्रिथि मिसिर बनाम हरक नाथ सिंह*[3] में उक्त उच्च न्यायालय ने यह माना है कि "नज़रबंदी" शब्द प्रलोभन और छिपाव के समान वर्ग का है। इसका यह अर्थ नहीं है कि स्त्री को उसकी इच्छा के विरुद्ध रोका गया हो, बल्कि यह आवश्यक है कि ऐसा साक्ष्य हो जिससे यह सिद्ध हो कि अभियुक्त ने ऐसा कार्य किया जिसका प्रभाव यह हुआ कि स्त्री अपने पति के पास लौटने से रोकी गई। तथ्यों के आधार पर, हालांकि, न्यायालय ने यह माना कि विद्वान विचारण दंडाधिकारी ने कोई निश्चित तथ्यात्मक निष्कर्ष नहीं दिया था। वास्तव में यह प्रतीत नहीं हुआ कि अभियुक्त शिकायतकर्ता की पत्नी को अपनी उपपत्नी के रूप में रख रहा था; और समग्र रूप से न्यायालय इस बात से संतुष्ट नहीं था कि

1 (1937) 39 बॉम्बे एल.आर 60.

2 ए.आई.आर. (1943) बॉम्बे. 179.

3 आई.एल.आर. (1937] 1 कैल. 166.

शिकायतकर्ता की पत्नी के अपने पति का घर छोड़ने के लिए अभियुक्त जिम्मेदार था, इसलिए नज़रबंदी सिद्ध नहीं माना गया। *मोबारक शेख बनाम अहमद नवाज* [4]में भी इसी उच्च न्यायालय ने यह माना कि भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के दूसरे भाग के अर्थ में किसी स्त्री का नज़रबंदी तब नहीं माना जा सकता जब वह एक पूर्णतः स्वतंत्र व्यक्ति हो और जब चाहे अभियुक्त को छोड़कर जा सकती हो। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्वान न्यायाधीशों का यह मत था कि यदि स्त्री पूर्णतः स्वतंत्र रूप से किसी भी समय अभियुक्त को छोड़कर जा सकती है, तो नज़रबंदी नहीं माना जाएगा; और इस विचार के समर्थन में उन्होंने कुछ पूर्व निर्णयों का उल्लेख किया है जिन पर हम पहले ही विचार कर चुके हैं। सम्मानपूर्वक ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्व निर्णयों के प्रभाव पर उचित रूप से विचार नहीं किया गया और उन मामलों के तथ्यात्मक निष्कर्षों को इस प्रकार समझ लिया गया कि वे धारा की व्याख्या को प्रभावित या परिवर्तित करते हैं। इसके अतिरिक्त, संबंधित टिप्पणियाँ मात्र अप्रासंगिक प्रतीत होती हैं क्योंकि तथ्यों के आधार पर यह पाया गया था कि उस मामले में स्त्री स्वतंत्र एजेंट नहीं थी, इसलिए अभियुक्त के विरुद्ध धारा 498 का आरोप सिद्ध माना गया। *बिपद भंजन सरकार बनाम एम्परर* [1]में हेंडरसन और खुंदकर, न्यायाधीशों ने "रोक रखना" शब्द की वही व्याख्या अपनाई है जो हम यहाँ कर रहे हैं। तथापि, अन्य कई मामलों की तरह इस मामले में भी न्यायालय ने पाया कि ऐसा कोई साक्ष्य नहीं था जिससे यह सिद्ध हो सके कि अभियुक्त ने कोई ऐसा कार्य किया हो जो उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत अपराध की परिधि में लाता हो।

पटना उच्च न्यायालय ने *बनारसी राउत बनाम एम्परर*[2] में यह माना है कि किसी विवाहित स्त्री को आश्रय देना ऐसा प्रलोभन है जो भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अर्थ में नज़रबंदी के समान माना जा सकता है। यह मामला यह दर्शाता है कि जहाँ किसी

4 (1939) 43 सी.डब्ल्यू.एन. 980

1 आई.एल.आर. [1940] 2 कैल. 93.

2 ए.आई.आर. (1938) पैट. 432.

विवाहित स्त्री को अभियुक्त के घर में कुछ समय तक रहते हुए पाया गया और उसके साथ यौन संबंध स्थापित होने का भी प्रमाण मिला, वहाँ न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए प्रवृत्त हुआ कि स्त्री को बहकाया या प्रेरित किया गया था, जो "नज़रबंदी" शब्द के अर्थ में आता है। यह ऐसा मामला है जो दूसरी ओर आता है, जहाँ तथ्यों के आधार पर अभियुक्त के विरुद्ध अनुमान निकाला गया।

लाहौर उच्च न्यायालय ने सन् 1913 में *बंसी लाल बनाम द क्राउन* [3]में भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया था। न्यायालय ने माना कि जहाँ अभियुक्त ने स्त्री के लिए एक मकान उपलब्ध कराया और वह स्त्री अपने पति को छोड़कर अभियुक्त के संरक्षण में उसकी रखैल के रूप में वहाँ रहने लगी, वहाँ अभियुक्त का यह सक्रिय आचरण उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत लाने के लिए पर्याप्त है। सन् 1939 में लाहौर उच्च न्यायालय की एक खंडपीठ ने *हरनाम सिंह बनाम एम्परर*[4] में इसके विपरीत दृष्टिकोण अपनाया। इस मामले में हरनाम सिंह की धारा 498 के अंतर्गत दोषसिद्धि के विरुद्ध पुनरीक्षण याचिका पहले दिन मोहम्मद, न्यायमूर्ति के समक्ष प्रस्तुत हुई, जिन्होंने यह मानते हुए कि उठाया गया विधिक प्रश्न महत्वपूर्ण है, उसे खंडपीठ को संदर्भित कर दिया। अपने संदर्भ निर्णय में विद्वान न्यायमूर्ति ने उन कुछ निर्णयों का उल्लेख किया जो उनके समक्ष रखे गए थे और यह मत व्यक्त किया कि "रोक रखना" शब्द स्वाभाविक रूप से उस व्यक्ति की ओर से किसी प्रत्यक्ष कार्य को इंगित करता है जो किसी अन्य को रोकता है; उन्होंने यह भी माना कि केवल बहकाना या प्रलोभन "नज़रबंदी" के लिए पर्याप्त नहीं है। इसके बाद मामला युवा मुख्य न्यायमूर्ति और ब्लैकर, न्यायमूर्ति की खंडपीठ के समक्ष गया। दुर्भाग्यवश खंडपीठ के निर्णय में धारा 498 की व्याख्या पर कोई विस्तृत चर्चा नहीं की गई और केवल यह कहा गया कि "हमारे विचार में 'नज़रबंद' शब्द स्पष्ट रूप से अभियुक्त के ऐसे कार्य को इंगित

---

3 (1913) XIV पंजाब एल.आर. 1666.

4 ए.आई.आर. (1939) **लाहौर** 295.

करता है जिससे स्त्री की स्वतंत्र गति रोकी जाती है और इससे उसकी अनिच्छा का संकेत मिलता है; 'नज़रबंदी' में केवल बहकावे या समान प्रलोभनों द्वारा प्रेरित करना शामिल नहीं है जिससे स्त्री यदि चाहे तो जा सके।" उन्होंने आगे यह भी कहा कि 'नज़रबंद' शब्द को पति के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता, और हमारे विचार में ये टिप्पणियाँ धारा 498 के वास्तविक आशय को सही रूप से प्रस्तुत नहीं करतीं।

अतः स्थिति यह है कि निचली न्यायालय द्वारा अपीलकर्ता संख्या 1 के विरुद्ध किए गए तथ्यात्मक निष्कर्षों के आधार पर यह माना जाना चाहिए कि उसे भारतीय दंड संहिता की धारा 498 के अंतर्गत सही रूप से दोषी ठहराया गया है।

यह हमें उस प्रश्न तक ले जाता है जो पुनरीक्षण क्षेत्राधिकार में उच्च न्यायालय द्वारा अपीलकर्ता संख्या 1 को दी गई सजा से संबंधित है। हम इस बात से संतुष्ट हैं कि उच्च न्यायालय अपीलकर्ता संख्या 1 को सजा बढ़ाकर छह महीने के कठोर कारावास का आदेश देने में उचित नहीं था। यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि सजा का प्रश्न सामान्यतः विचारण न्यायमूर्ति के विवेकाधिकार में होता है। विचारण न्यायाधीश का यह कर्तव्य होता है कि वह सभी संबंधित परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए यह निर्धारित करे कि किसी मामले में कौन-सी सजा न्याय के उद्देश्यों को पूरा करेगी। निस्संदेह उच्च न्यायालय को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 439 के अंतर्गत ऐसी सजा बढ़ाने का अधिकार है; लेकिन इस अधिकार का प्रयोग केवल तभी उचित रूप से किया जा सकता है जब उच्च न्यायालय इस बात से संतुष्ट हो कि विचारण न्यायमूर्ति द्वारा दी गई सजा अत्यधिक उदार है, या सजा देते समय उसने संबंधित तथ्यों पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया है। यह संभव है कि उच्च न्यायालय ने यह माना हो कि सत्र न्यायमूर्ति द्वारा मूल सजा में किया गया संशोधन गलत था और इस दृष्टि से अपीलकर्ता संख्या 1 के विरुद्ध धारा 439 के अंतर्गत कारण बताओ नोटिस जारी करना उचित था; लेकिन सजा बढ़ाते समय उच्च न्यायालय को, हमारे विचार में, विचारण न्यायालय द्वारा दी गई सजा को ही बहाल कर देना चाहिए था। यह सत्य है कि

सजा बढ़ाते समय उच्च न्यायालय ने यह टिप्पणी की है कि "इस देश की महिलाएँ, चाहे पवित्र हों या अपवित्र, उनकी रक्षा की जानी चाहिए और न्यायालय का कर्तव्य है कि उन्हें पर्याप्त संरक्षण दिया जाए।" हम यह मानने की प्रवृत्ति रखते हैं कि यह विचार वास्तव में बहुत सहायक या निर्णायक नहीं है क्योंकि जैसा कि हमने पहले कहा है, भारतीय दंड संहिता की धारा 498 महिलाओं के अधिकारों की रक्षा नहीं करती बल्कि पति के अधिकारों की रक्षा करती है। इसके अतिरिक्त, वर्तमान मामले में यह स्पष्ट है कि मुसम्मत रहमतिया, जिसका नैतिक चरित्र अपेक्षाकृत ढीला बताया गया है, अपने दूसरे पति शिकायतकर्ता से असंतुष्ट थी और अपीलकर्ता संख्या 1 से विवाह करने के लिए इच्छुक थी। ऐसे मामले में, यद्यपि अपीलकर्ता संख्या 1 धारा 498 के अंतर्गत दोषी है, यह स्वीकार करना कठिन है कि विचारण न्यायालय द्वारा दी गई दो महीने के साधारण कारावास की सजा इतनी अनुचित रूप से उदार थी कि वह न्याय के उद्देश्यों को पूरा न कर सके। अपीलीय न्यायालय के लिए केवल इस आधार पर विचारण न्यायालय की सजा में हस्तक्षेप करना उचित नहीं है कि यदि वह स्वयं मामले की सुनवाई करता तो थोड़ी अधिक या कठोर सजा देता। अतः हम अपीलकर्ता संख्या 1 के विरुद्ध सजा के आदेश को संशोधित करते हुए उसे दो महीने के साधारण कारावास तक सीमित करते हैं।

अपीलकर्ता संख्या 2 का मामला अपीलकर्ता संख्या 1 से स्पष्ट रूप से भिन्न है। अधीनस्थ न्यायालय द्वारा दर्ज किए गए तथ्यात्मक निष्कर्षों से यह सिद्ध नहीं होता कि अपीलकर्ता संख्या 2 ने मुसम्मत रहमतिया को बहकाने, प्रलोभन देने या किसी प्रकार का प्रेरण देने का कार्य किया हो। उसके विरुद्ध एकमात्र साक्ष्य यह है कि जब शिकायतकर्ता अपनी पत्नी को ले जाने आया, तब अपीलकर्ता संख्या 2 ने उसे धमकाया। अभिलेख से यह भी स्पष्ट है कि अपीलकर्ता संख्या 2 अपीलकर्ता संख्या 1 का भाई है; और यदि यह जानते हुए कि रहमतिया ने उसके भाई से विवाह कर लिया था, अपीलकर्ता संख्या 2 ने शिकायतकर्ता को वहाँ से चले जाने को कहा, तो इससे यह विधिक रूप से अनुमान नहीं

लगाया जा सकता कि उसने रहमतिया को उसके पति के संरक्षण को छोड़ने या वापस न लौटने के लिए कोई प्रलोभन, बहकावा या आकर्षण दिया होगा। वास्तव में निचली अदालतों ने इस अपीलकर्ता के मामले पर उसके स्वतंत्र तथ्यों के आधार पर अलग से विचार ही नहीं किया है। हमारे विचार में अपीलकर्ता संख्या 2 की दोषसिद्धि का समर्थन अभिलेख पर किसी भी साक्ष्य से नहीं होता। परिणामस्वरूप, अपीलकर्ता संख्या 2 द्वारा दायर अपील स्वीकार की जाती है, उसके विरुद्ध पारित दोषसिद्धि एवं सजा का आदेश अपास्त किया जाता है और उसे बरी कर मुक्त कर दिया जाता है।

अपीलकर्ता संख्या 1 की अपील खारिज की जाती है।

अपीलकर्ता सं. 2 की अपील को अनुमति दी गई।

ठाकुर रघुबीर सिंह और अन्य

बनाम

अजमेर राज्य (अब राजस्थान) और अन्य

(और संबंधित याचिकाएँ)

(एस. आर. दास, मुख्य न्यायाधीस, एन. एच. भगवती, बी. पी. सिन्हा, के. सुब्बा राव और के. एन. वांचू, न्यायमूर्तिगण)

भूमि सुधार—मध्यस्थों का उन्मूलन—अधिनियम की वैधता—विधायिका की क्षमता—जागीर संपत्तियों की पुनर्ग्रहण की देयता—अजमेर मध्यस्थों के उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम, 1955 (अजमेर अधिनियम III, 1955), धाराएँ 8, 38—भारत का संविधान, सातवीं अनुसूची, सूची I की प्रविष्टि 33, सूची II की प्रविष्टि 36, सूची III की प्रविष्टि 42।

अजमेर मध्यस्थों के उन्मूलन और भूमि सुधार अधिनियम, 1955 की धारा 4 में यह प्रावधान किया गया था कि अधिनियम में परिभाषित मध्यस्थों द्वारा धारित सभी संपत्तियाँ राज्य में उस तिथि से निहित हो जाएँगी, जिसे अधिसूचित किया जाएगा। इससे प्रभावित याचिकाकर्ताओं ने भारत के संविधान के अनुच्छेद 32 के अंतर्गत याचिकाएँ दायर

कीं, जिनमें उन्होंने अधिनियम की वैधता को चुनौती दी, विशेष रूप से धारा 8 और 38 को इस आधार पर कि (1) सूची II की प्रविष्टि 36 के अंतर्गत...

खंडन (डिस्क्लेमर)- स्थानीय भाषा में निर्णय के अनुवाद का आशय, पक्षकारों को इसे अपनी भाषा में समझने के उपयोग तक ही सीमित है और अन्य प्रयोजनार्थ इसका उपयोग नही किया जा सकता। समस्त व्यवहारिक, कार्यालयी, न्यायिक एवं सरकारी प्रयोजनार्थ, निर्णय का अंग्रेजी संस्करण ही प्रमाणिक होगा साथ ही निष्पादन तथा कार्यान्वयन के प्रयोजनार्थ अनुमान्य होगा।